'ब्रह्मसत्यं जगत् स्फूर्तिः, जीवनं सत्यशोधनम्'

विनोबा-प्रवचन

(सप्ताह में तीन बार—मंगल, गुरु और शनि को प्रकाशित)

वर्ष ३, अंक ३० | वाराणसी, गुरुवार, १२ मार्च, १९५९ | पचीस रुपया वार्षिक

प्रार्थना-प्रवचन

गगवान (अजमेर) २-३-'५९

शान्ति-सेना की समग्र दृष्टि

यहाँ इतने भाई बोल रहे थे, उसमें से कुछ भाव मैंने पकड़ लिये और उतने ही विषयों पर कुछ खुलासा करूँ, ऐसा सोचा है। आरम्भ वहींसे करूँगा, जहाँ आज सुबह मैंने अपना बयान आप लोगों के सामने पेश किया था। उसपर कुछ भाई यहाँ बोले भी।

शान्ति-सैनिक योगयुक्त जीवन बितायें

मैंने कहा था कि शान्ति-सैनिक जो कुछ भी हक रखें, लेकिन बीमार पड़ने का हक न रखें। उसका बड़ा ही सुन्दर दार्शनिक उत्तर गद्रेजी ने दिया। उन्होंने कहा कि वेदान्त कहता है कि शरीर से तो हम पृथक् हैं और बीमार पड़ेगा तो शरीर ही पड़ेगा। अतः उससे हमारा क्या सम्बन्ध है ? किन्तु यदि वेदान्त इतना आसान होता तो वह हमें पहले से ही सध जाता। वेदान्त कहता है कि जहाँ तुम देह से भिन्न हो, वहाँ उसका अर्थ कितना गहरा जाता है, यह समझने की जरूरत है। जिसने यह पहचाना कि मैं देह से भिन्न हूँ, उसकी देह स्वस्थ ही रहेगी, यह समझना चाहिए। जब हम बीमार पड़ते हैं तो कुछ-न-कुछ देह के साथ एकरूप हो जाते हैं, कुछ आसक्ति होती है। गलत काम करते हैं, इसलिए बीमार पड़ते हैं। बीमार पड़ना ही देहासक्ति का लक्षण है। देह से अलग हो जायँ तो बीमारी ही खत्म हो जाय। दूसरे एक भाई ने कहा कि मुझे बीमारी से अच्छे विचार सूझे हैं। लेकिन वह बीमारी की नहीं, भगवान की कृपा से है। अगर ऐसा होता, तो किसी कालेज या हाईस्कूल की जरूरत ही न पड़ती। लोग बीमार पड़ते और विचार सूझते जाते। जिस पर भगवत् कृपा होती है, उसे आपत्ति, संकट से भी लाभ हो सकता है। मैंने जो कहा था, उसमें गम्भीर आशय यह था कि शान्ति-सैनिकों को अपनी जिम्मेवारी महसूस करनी चाहिए कि वे निरंतर सेवक हैं और जैसे सूर्यनारायण ने एक दिन भी दुनिया को धोखा नहीं दिया, वैसे ही हमें भी निरंतर सेवा में उपस्थित रहना होगा। इसलिए हमारा जीवन समत्वयुक्त और शान्त रहे। अतिरेक किसी प्रकार का न करें, जिससे शरीर में अनारोग्य होकर काम रुक जाय। इस तरह मैं शांति-सेना का मूलभूत विचार ही बता रहा था कि शांति-सेना के मनुष्य को योगयुक्त जीवन बनाना चाहिए।

उपवास हमारे लिए लागू नहीं

यहाँ शान्ति-सैनिकों के विषयों में उपवास का भी एक विषय उपस्थित किया गया था। अंग्रेजी में कहावत है कि 'जहाँ फरीस्ते पैठने से डरते हैं, वहाँ मूढ़ मनुष्य बेदरकार प्रवेश करना चाहते हैं।' उपवासादि प्रश्न ऐसे हैं, जो हम सब लोगों को लागू नहीं हैं। मैं इसका आत्यंतिक निषेध नहीं करता। उसका अपना एक स्थान है, यह मैं जानता हूँ। ऐसा सामान्यतः लेकिन साधारणतः यह समझने में कोई हर्ज नहीं कि वह हम लोगों के लिए नहीं है। मान लीजिये, मुझमें प्रेम है, समत्वयुक्त चिन्तन कैसे किया जाय, यह जानता हूँ, जनता की सेवा कर रहा हूँ और अपने को दुर्जन के सामने उपस्थित करता हूँ। फिर यदि मेरे प्रेम, समत्ववाद या सेवा-भाव का उनपर परिणाम न होता हो, तो वह उपवास से कैसे होगा ? उपवास में इनसे बढ़कर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो मेरे प्रेम, समत्व-भाव या सेवा-भाव में नहीं है ? फिर भी उपवास से दबाव पड़ता है, ऐसी कल्पना करें, तो मैं मानता हूँ कि वह सत्याग्रह नहीं, वह गलत ही काम है। जब उपवास ही प्रेम, करुणा, समत्व का चिह्न होगा, तभी उसका परिणाम होगा। उस हालत में वह योग्य माना जायगा। भक्त-जन ताली बजाते हैं, तो क्या हम भी तालियाँ बजाने से भक्त-जन बन जाते हैं ? ताली बजाने से भक्ति नहीं होती, भक्ति के चिन्ह के तौर पर जब ताली बजायी जाती है, तभी भक्ति का रूप प्रकट होता है। इसलिए ताली बजाने को ही भक्ति का टेकनिक नहीं माना जा सकता। इसी तरह भक्त नाचते और गाते भी हैं। किन्तु उनके नाचने और दूसरों के नाचने में बहुत फर्क पड़ता है। अतः जहाँ प्रेम, सत्य, करुणा आदि का स्वाभाविक प्रकाशन हो, वहाँ वह प्रकाशन उपवास से भिन्न नहीं हो सकता है। उपवास के रूप में वह प्रकाशन होता हो तो वह चीज मान्य है, वह भक्ति के तौर पर ही है। यह बहुत गहरा विषय है, लेकिन दबाव डालने का प्रकार हो ही सकता है।

देहासक्ति कैसे मिटेगी ?

गद्रेजी ने दूसरी एक बात यह कही कि हमें शरीर की आसक्ति पड़ी है। मृत्यु नजदीक है, मरने का डर है। इसीलिए आमरण

उपवास तो नहीं, किन्तु २०-२५ उपवास करें, जिससे जीवन खतरे में आ जाय, मृत्यु नजदीक आ जाय तो थोड़ी निर्भयता आयेगी और शरीर की आसक्ति भी जायगी। लेकिन मैं मानता हूँ कि इस तरह देह की आसक्ति न जायगी। देह की आसक्ति या भय इस देह से नहीं होता। कुछ लोग आत्महत्या करते हैं तो क्या वे महात्मा हो जाते हैं? देहासक्ति छोड़ें और निर्भय बनें, यह बहुत ही गहरी चीज है। वह काया-क्लेष आदि से नहीं होता है। जैन लोगों में यह बात है। उनमें कुछ लोग मरते हैं। जैन परिभाषा में उसे 'संखारा' कहते हैं। वे व्यर्थ आमरण उपवास करते हैं, इसलिए कि हमारे जो पाप हों, वे जीर्ण हो जायँ। पूर्व कर्म मुक्ति में बाधक हों तो उन्हें जीर्ण करने की वृत्ति होती है। अपनी तपस्या से अपने कर्मों को काट डालने के विचार को निर्जरा कहते हैं। लेकिन इससे कोई भय मुक्तता होती या देहासक्ति छूटती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह चीज ज्ञान से ही सध सकती है। अज्ञानावस्था में रहकर भी ज्ञान जैसा ही परिणाम लाने की दूसरी युक्ति निकालें, यह सम्भव नहीं। जो कार्य ज्ञान से होता है, वह दूसरी किसी चीज से नहीं हो सकता। अतः उपवास की यह कल्पना आप अपने दिमाग से निकाल दें तो अच्छा हो। उपवास आसान है, लेकिन संयमपूर्वक आहार कठिन। मौन आसान है, लेकिन संयमपूर्वक बोलना कठिन। दस-पंद्रह उपवास कर लिये तो कठिन काम कर लिया, ऐसा भी नहीं। हम संयम से खाते हैं या नहीं, यही महत्त्व की बात है। सत्याग्रह के विचार में उपवास की बात बार-बार आती है और चिंतन में कुछ मुश्किल पैदा करती है।

पक्षातीतता और पक्षमुक्तता

तीसरी बात, पक्षातीत और पक्ष-मुक्त के प्रश्न पर जो बात शुरू हुई, वह चित्त में उलझन पैदा करती है। कोई यह न माने कि लोक-सेवकों की निष्ठा में कोई परिवर्तन करना होगा। लोक-सेवक की निष्ठा में पक्ष-मुक्ति आवश्यक है और वह अपने स्थान पर ठीक ही है। फिर भी बहुत से लोग ऐसे हैं, जो नित्य-निरंतर, जीवन और मन से सेवा करते हुए भी मोहवश या पूर्व-संस्कारवश किसी संस्था के साथ जुड़े भ्रातृभाव को तोड़ नहीं सकते। उनके लिए कुछ सहूलियत होती ही है, क्योंकि पक्षातीत भूमिका वे दिखा सकते हैं। मुझे कई बार भ्रम हुआ है कि सामने दिखाई पड़नेवाला चन्द्र चतुर्दशी का है या पूर्णिमा का। बिलकुल गोल चक्र दीखता है, इसलिए निर्णय करना कठिन होता है। किंतु चतुर्दशी का चन्द्र पक्षातीत होगा और पूर्णिमा का चन्द्र पक्ष-मुक्त। पक्ष-मुक्त और पक्षातीत में इतना ही अंतर है। ऐसे कुछ भाई हैं, जो कल ही आकर कह गये कि मेरा नाम शांति-सैनिक में लिख लें। वे तो हमारे कार्यक्रम में लगे ही हैं। सिर्फ पक्ष-मुक्ति की शर्त ही उन्हें हमसे अलग रखती थी। अतः पक्षातीत की इस नयी व्याख्या से निश्चय ही वे हमारे साथ आ सकते हैं। हम उनपर टीका नहीं कर रहे हैं। गोकुलभाई जैसों का नाम शांति-सेना में प्रवेश करवाया जाता है तो वह गलत नहीं, उचित ही है। मेरा खयाल है, इससे विषय स्पष्ट हो जायगा।

यह एक बहुत बड़ा विषय आपने खोला है। प्यारेलालजी ने बापू का एक वाक्य अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है कि 'मैं योजना और संगठना के बीच योजना पसन्द करूँगा। संगठना अहिंसा की कसौटी है।' इससे वे क्या कहना चाहते थे, यह समझना चाहिए। हिंसा वाले संगठन करने में कुशलता हासिल करते हैं। पक्की और मजबूत संगठना कर उसमें शासन, नियमों के बन्धन, आदेश आदि की सारी योजनाएँ करते हैं, जिससे हिंसा में रक्षण की वह शक्ति आ जाती है, जो वास्तव में उसमें नहीं रहती। इनमें से फिर भी अहिंसा में इतनी मजबूत संगठना बनती है, जितनी संगठना हिंसा कभी कर ही नहीं सकती। अहिंसा की संगठना हिंसा के बराबरी की ही नहीं, बल्कि इसे भी मात कर सकती है, ऐसा दिखा दें तो उसमें अहिंसा की कसौटी हो जाती है। जबरदस्ती से की गयी आज्ञा का पालन लोग करते अवश्य हैं, लेकिन वह भावपूर्वक और अक्षरपूर्वक पालन नहीं होता, जितना कि गुरु की सलाह का होता है। उनकी सलाह का जितना चमत्कार और जितना असर लोगों पर होता है, उतना हिंसाकारी की हिंसायुक्त आज्ञा से नहीं होता। अगर हमारे भाव और वाणी शुद्ध हैं तो नम्रतापूर्वक दी गयी सलाह सहज ही हृदय में पैठ जायगी, उससे ज्यादा प्रेरणा मिल सकेगी। इस तरह अहिंसा के पास जो तरकीबें हैं, वे हिंसा से ज्यादा कारगर हो सकती हैं। संगठना करने में हम ऐसा दिखा दें, तभी हमारी अहिंसा की कसौटी हो सकती है।

दूसरे से एकरूप बनने का यत्न करें

यह कैसे होगा? यह इस आज्ञा-शक्ति से नहीं हो सकता। यदि हम एक साथ बैठें, मिलकर चर्चा करें और उसमें जो कुछ निर्णय निकालें, वह लोगों को आज्ञा से भी बढ़कर शिरोधार्य लगेगा। यह कैसे होगा, इसपर जब सोचता हूँ तो ईसा का वाक्य याद आ जाता है कि 'तुझसे जो मतभेद रखता है, उससे तू जल्द से-जल्द एक रूप हो जा।' याने 'एडजस्टमेंट' करने की यह कुशलता अहिंसा में होनी चाहिए। तभी यह विचार सबको शिरोधार्य हो सकता है! मान लीजिये कि यहाँ एक हजार शान्ति-सैनिक हैं। पाँच हजार लोगों के लिए एक व्यक्ति माना जाय तो ये हजार व्यक्ति पचास लाख लोगों की सेवा कर सकते हैं, उनमें शान्ति-स्थापन कर सकते हैं। फिर यदि शान्ति-सैनिकों में थोड़ी-सी भी शुद्धि हो और जरा कुछ प्रेम की कला हो तो एक शांति-सैनिक दस हजार लोगों को भी सेवा कर सकता है। इस तरह एक करोड़ जनता की सेवा करने और शान्ति कायम रखने के लिए इतने सेवक पर्याप्त हो सकते हैं। लेकिन मिलकर काम करने का यह माद्दा हममें आना चाहिए। जैसे सभी शब्द अपने-अपने विषय में प्रमुख होते हुए भी वाक्य-विन्यास के समय एक को मुख्य मान बाकी अपना गौण भाव स्वीकार कर सुन्दर वाक्य बना देते हैं--अपनी प्रमुखता का अड़ंगा डाल साहित्य को बिगाड़ नहीं देते--वैसे ही हम अपने को सबार्डिनेट करना सीखें, दूसरे के मातहत काम करें। यहाँ यह जरूरी नहीं है कि तुम मेरे ही मातहत काम करो। यह हमने बापू के उस वाक्य का अर्थ क्या है, यह देखने की कोशिश की।

एकाग्रता और एकांगिता के अर्थ

अब एकांगिता और एकाग्रता की बात देखिये। हम एकाग्रता चाहते हैं, एकांगिता नहीं। दोनों में फर्क क्या है, यह तो हम जानते हैं, लेकिन उसे शब्दों में रखने की बात है। एकाग्रता वह है, जिसके अन्दर समग्रता निहित होती है। मान लीजिये, मैंने किसीका हाथ पकड़ा। अगर मैं ऐसा मानूँ कि मैंने सिर्फ उसका हाथ ही पकड़ा तो यह एकांगिता है। लेकिन अगर यह मानूँ कि मैंने उसका हाथ ही नहीं, बल्कि उस मनुष्य को ही पकड़ लिया तो उसमें समग्रता आ जाती है। इसे ही एकाग्रता कहते हैं। एक चीज हाथ में पकड़ लें और उससे सारे ग्राम में ग्राम-स्वराज्य हो, ऐसी कुशलता एकाग्रता में है। पूछा जाता है कि ग्रामदानी गाँव में जायँ तो आरम्भ कहाँ से करें, दूकान से, खादी

से या सफाई से करें ? इसपर जवाब दिया जाता है कि 'अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, ज्यादा लोगों की इच्छा जिस प्रकार की हो, उसके अनुसार किया जाय।' पर वास्तव में इसका जवाब यही है कि हममें जो शक्ति होती है, उसमें से समग्र गाँव की सेवा होती है। अगर तुममें प्रबोधन की शक्ति हो, तुम उस ग्रामदानी गाँव में अध्यापन के काम से शुरू करो। ग्राम के जीवन के हर पहलू को किस प्रकार व्यापक बना सकते हैं, इसकी युक्ति सधनी चाहिए। सारांश, एकांगिता में एक अंग हाथ में आता है तो एकाग्रता में अंगी हाथ में आता है।

साम्य करुणा और विवेकपूर्वक ही रहें

आज एक बहुत बड़ा झमेला पैदा हो गया, जो हमारे काम में रुकावट डाल रहा है। वह कोरापुट के सिलसिले में है। वहाँ हम कुछ लोगों को सर्वोदय-पात्र में से देते हैं। ३० से ५० रुपया के अन्दर तनख्वाह दी जाती है। उसी क्षेत्र में दूसरे ऐसे भी कार्यकर्ता हैं, जिन्हें हम हिन्दी में वेतन-भोगी कह सकते हैं। वे कोई ५०० रुपया नहीं लेते, लेकिन १५० रुपयों तक मिलता है। वे कार्यकर्ता और ये कार्यकर्ता दोनों समाज के सामने आते और कहते हैं कि हम दोनों एक ही हैं। तब समाज पूछता है कि आपको तो पैसा बहुत मिलता है, फिर आप हमारे पास से पैसा क्यों इकट्ठा करते हैं ? निःसन्देह जहाँ एक ही विचार के अनेक सेवक बिलकुल अलग-अलग प्रकार से रहते हैं, वहाँ इस प्रकार का 'कन्फ्यूजन' पैदा होना लाजमी है। इसके लिए दो बातें करनी चाहिए। पहली बात यह है कि हम जो युग लाना चाहते हैं, वह साम्य-योग युग बने। यह साम्य करुणामूलक और विवेकपूर्ण होना चाहिए। यह विवेक हमें और समाज, दोनों को होना चाहिए। मान लीजिये, मैं अविवाहित हूँ और दूसरा मेरा मित्र विवाहित है, इसलिए उसका खर्चा ज्यादा होगा ही। अतः उसे ज्यादा मिलना चाहिए और मैं अविवाहित हूँ, इसलिए मुझे कम मिलना चाहिए। यही है करुणा और विवेक की बात।

वेद में एक मन्त्र आता है, जिसका अर्थ यह है कि मैं अकेला सत्यरूपी रमणीय पर्वत की चोटी पर बैठा था। इतने में प्रेमी मित्र चढ़कर ऊपर आये, मैं वहाँ पर बैठा हूँ, सुन्दर दृश्य देख रहा हूँ, सुन्दर हवा लग रही है; लेकिन मेरे हृदय की आवाज ने कहा कि यह मेरे मित्र जो वत्सल बाल-बच्चे-वाले हैं, मेरी मदद के लिए चिल्ला रहे हैं। अतः मैं करुणा से नीचे उतर आता हूँ। यह अवतार की कल्पना है। खैर, करुणा एक वस्तु होती है और उसीके कारण महापुरुष दुनिया से मुक्त होते हैं और दुनिया की सेवा में लगे रहना पसन्द करते हैं। इसीलिए कोई अपरिग्रही यदि किसी परिग्रही के लिए प्रेम, करुणा और विवेक न रखे तो उसका अपरिग्रह एकांगी हो जायगा। समाज को सिखाना होगा कि समाज में तारतम्य तो रहेगा ही, फिर भी यह साम्ययोग समझना ही होगा कि हम सब एक हैं। इसी वृत्ति से रहकर भी हम यह बात समाज को समझा सकते हैं। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि विभिन्न सेवकों की आमदनी के साधनों को एकत्र कर बैठकर खायें। यद्यपि उसमें भी कम-बेसी बाँटना ही होगा, लेकिन एकत्र कर बाँटने का माद्दा ला सकें तो अच्छा ही है।

कार्यकर्ताओं को क्या-क्या सिखाया जाय ?

जयप्रकाशजी ने कहा कि हमारा यह कार्य अद्भुत हो रहा है, ऐसा मानने की जरूरत नहीं है। लेकिन जरूरत है भी और नहीं भी। इसलिए नहीं कि हर माँ के बच्चे तो होते हैं, इसलिए उसमें अद्भुत क्या है ? लेकिन इस माता को यह बच्चा हुआ है तो उसके लिए वह अद्भुत ही है। इस तरह आज की जो घटना हुई, वह अद्भुत है भी और नहीं भी। ये दोनों सम्हालेंगे तो ठीक काम करेंगे। उन्होंने एक पहलू हमारे सामने पेश किया। हम इस काम की ओर अति-रंजित होकर देखें तो नाकामयाब होंगे। शांति के क्षेत्र में हमने कहने-सुनने लायक कुछ किया नहीं है, उस हालत में हमें संशोधन की जरूरत रहेगी। हम थोड़े-से ही प्रफुल्लित हो जायँ तो वह आनन्द भी शान्ति-साधना में बाधक हो जायगा। जैसे विवाद बाधक होता है, वैसे आनन्द भी हो जायगा। इस दृष्टि से शान्ति की आवश्यकता है, इसमें कोई शिकायत नहीं है। हम भी कुछ हैं, इस प्रकार के अनुभव का भी एक मूल्य है। उससे उत्थान होता है। अतः उस आनन्द को थोड़े में समाप्त करना चाहिए और गम्भीरता से सोचना चाहिए, इसके लिए संशोधन करना चाहिए। इसके लिए शिक्षण की आवश्यकता है। सर्व-सेवा-संघ शिक्षण का काम सोचे, योजना करे। शिक्षण किस तरह से दिया जाय, यह विस्तृत योजना है।

एक बात तो यह है कि कुछ चीजों की शक्तियों का अभी हमें भान नहीं हुआ है। हाँ, बोलने की शक्ति का भान हुआ है, मगर मौन की शक्ति का भान कम हुआ है। मौन में भी बड़ी शक्ति होती है। ऐसे कई प्रसंग आते हैं कि जहाँ मौन होने पर चित्त पर बहुत अच्छा असर होता है। उससे मनुष्य सम्हल जाता है। जानकीबाई ने जमनालालजी का वर्णन करते हुए कहा था कि वे मेरे जैसा व्याख्यान नहीं दे सके। क्योंकि उनके पीछे डर लगा रहता था कि मैं जैसा बोलूँगा, वैसा करना पड़ेगा। यह दहशत जिनके पीछे हो, वे वक्ता बन नहीं सकते। सारांश, मौन का यह विशेष प्रयोजन है। हमें मौन की शक्ति संशोधित करनी होगी।

दूसरी बात जहाँ संगीत भक्ति के साथ जुड़ जाता है, वहाँ भी शांति की स्थापना हो सकती है। इसका भी संशोधन करना चाहिए। उड़ीसा में मैंने कहा था कि नाचो, गाओ, बजाओ और गाँव में जाओ तो तुम्हें देखते-देखते ग्रामदान मिल जायगा। अतः हम जो शिक्षण दें, उसमें भक्तियुक्त संगीत का, संगीतयुक्त भक्ति का शिक्षण दिया जाय।

तीसरा विचार जो सहज ही आ जाता है, वह यह है कि हमारी जितनी सारी सेवाएँ चलती हैं, वे कर डालने की होती हैं। अगर हम कोई काम कर रहे हों तो कहते हैं कि 'इतना काम कर डालता हूँ और फिर आता हूँ।' लेकिन अगर कोई खाता हो तो यही कहेगा कि 'इतना खा लेता हूँ, तब करता हूँ।' यह कभी नहीं कहता कि 'खा डालता हूँ', क्योंकि खाना तो असली चीज है। तात्पर्य यह कि आज जो वृत्ति है, वह सेवा 'कर डालने' की है, 'करते रहने की नहीं'। एक प्रसंग आया तो सेवा कर डाली। 'सेवा करते हैं', इसकी विशेषता हमें मालूम ही नहीं, पर वही मालूम होनी चाहिए। ध्यान रहे कि हम कितनी ही सेवा क्यों न करें, बचपन में समाज ने हमारी जो सेवा की, उससे तुलना करने पर हमपर ही उसका ऋण रहेगा। याने समाज ने हमपर जो उपकार किये हैं, उनका ऋण चुकाते-चुकाते भी शेष रह ही जाता है और आखिर उससे क्षमा माँगकर ही हम उसके उपकारों से मुक्त हो सकते हैं। सारांश, कार्यकर्ताओं के शिक्षण में चिन्तन, सेवा कैसे की जाय, इसका भी ज्ञान देना होगा। 'सेवा कर डालना' नहीं, 'निरन्तर करते रहना' इसका शिक्षण देना होगा।

फिर व्यवस्था का शास्त्र भी हम लोगों में नहीं है। जब मैं अव्यवस्था देखता हूँ तो मुझे जरा भी गुस्सा नहीं आता। क्योंकि मैं समझता हूँ कि वह हमारा स्वभाव ही है। लेकिन कहीं व्यवस्था दीखती है तो मैं प्रसन्न हो जाता हूँ। प्रार्थना में कुछ लोग देरी से आते हैं और आकर रास्ते में ही बैठ जाते हैं। अपने बाद के आनेवालों के बारे में कुछ सोचते ही नहीं। इसलिए जरा दूर जाकर कोने में बैठना चाहिए। इस तरह स्पष्ट है कि हमें व्यवस्था का शास्त्र मालूम नहीं है। अगर हम अपना इतिहास देखें तो पता चलेगा कि हमारी बड़ी-बड़ी सेनाएँ भी पाँच-पाँच हजार सैनिकों की सेनाओं के सामने इसीलिए हार गयीं कि हममें व्यवस्था और योजना-शक्ति नहीं थी। विपक्षी की सेना व्यवस्थित और हमारी सेना अव्यवस्थित होती थी। इसलिए हमें व्यवस्था का शास्त्र सीखना होगा। हम अपने कार्यकर्ताओं को जो शिक्षण देंगे, उसमें व्यवस्था-शास्त्र का भी अन्तर्भाव करना होगा।

फिर, चिन्तन की ही बात ले लें। चिन्तन में क्षोभ नहीं होना चाहिए। ऐसा भास हो कि हमारे ऊपर हमला हो रहा है तो शान्ति से चिन्तनपूर्वक उसका उत्तर देना चाहिए। उसमें क्षोभ नहीं होना चाहिए। विज्ञान के जमाने में जो क्षोभयुक्त चिन्तन करेगा, वह मार नहीं खायेगा। इस अक्षोभी चिन्तन के लिए एक अक्षोभी चिन्तनशास्त्र बना है। खुशी की बात है कि हमारे पास व्यवस्था-शास्त्र न होने पर भी चिन्तन-शास्त्र अवश्य है, जो विदेशों में नहीं है। पश्चिम के विकसित चिन्तन-शास्त्र से तुलना कर मैं कहता हूँ कि चिन्तन-शास्त्र का हमारे देश में बहुत ही अच्छा विकास हुआ है। उसे यहाँ प्राण-शास्त्र कहते हैं। मैंने ऐसी अच्छी पद्धति दूसरे देशों के चिन्तन-शास्त्र में देखी नहीं। अवश्य ही इसमें कभी-कभी विरोध होता है, पर वह इसीलिए होता है कि हम एकांगी बोलते हैं। हमारे मन में एक भाव होता है, शब्दों में दूसरा और समझनेवाला तीसरा ही भाव समझ लेता है। इसके मूल में चिन्तन-शास्त्र का ज्ञान न होना ही एकमात्र कारण मालूम होता है।

राजस्थान से दो विशेष माँगें

भाइयो, ये कुछ बातें सरसरी तौर पर आपके सामने रखीं। अब यह विचार कीजिये कि राजस्थान से हमारी क्या माँग है? हमें राजस्थान के तीन गुणों से युक्त तीन हजार सेवक चाहिए। इन तीन गुणों में एक तो भक्ति है, जिसका प्रतीक मीरा है। दूसरा पराक्रम है, जिसका प्रतीक राणा प्रताप है और तीसरा व्यवस्था-शास्त्र है, जिसका प्रतीक मारवाड़ी हैं। ये तीन गुण हैं इस प्रदेश के। इन तीनों गुणों से युक्त तीन हजार शान्ति-सैनिक मैं राजस्थान से माँग रहा हूँ। सरकार ने राजस्थान के मामूली बन्दोबस्त के लिए तैंतीस हजार पुलिस रखी है। मैं चाहता हूँ कि यहाँ तीन हजार शान्ति-सैनिक बनें और उन तैंतीस हजार सैनिकों को दूसरा कोई काम दिया जाय। उन्हें मुक्ति दी जाय और तीन हजार सेवकों को उनकी जगह दी जाय। यहाँके मुख्य मंत्री से जब यह पूछा गया कि 'क्या तीन हजार शांति-सैनिकों की माँग ज्यादा है?' तो उन्होंने कहा कि 'यह माँग कोई ज्यादा नहीं है।' ध्यान रहे कि ये शब्द आपके मुख्यमंत्री के हैं, जो बिना हिसाब के बोल नहीं सकते। अगर हम ठीक तरह से लोगों के पास पहुँचें तो तीन गुणों से युक्त तीन हजार सेवक प्राप्त करना असंभव नहीं है।

दूसरी मेरी माँग यह है, जिसे मैंने बहुत बार दोहराया है कि मुझे कुल-के-कुल ग्राम ऐसे चाहिए, जहाँ सर्वोदय-पात्र हो। मुझे खुशी है कि कुछ गाँववालों ने यह माँग पूरी की है और सर्वोदय-पात्र लाकर ही मेरा स्वागत किया है। ये दो मेरी विशेष माँगें हैं। फिर ग्रामदान की बात तो लोग समझ ही गये हैं। इसलिए बार-बार उसे दोहराना नहीं चाहता। अन्त में यही कहूँगा कि यहाँके भाई विचार करें और जो कर सकते हैं, वह अवश्य करें।

●●●

जिला-कार्यकर्ताओं के बीच

कलोल (महेसाणा) २३-२-'५८

तीन आवश्यक कर्तव्य : करुणा, संयोजन और सातत्य-योग

जिला-कार्यकर्ताओं की यह सभा मेरे लिए एक बहुत ही सुअवसर है। यों तो साधारण जनता के बीच अपने विचार उपस्थित करने का अवसर मिलता ही रहता है, लेकिन ऐसी सभाओं का अपना अलग महत्त्व होता है। किसी एक जिले में मैं अधिक-से-अधिक दो-चार या दस दिन ठहर पाता हूँ और लोगों को अपनी बात सुनाता हूँ। किन्तु उसके बाद लोगों के पास कौन पहुँचेगा? यहाँ जो आप सभी कार्यकर्ता उपस्थित हैं, वे ही उनके पास पहुँच सकते हैं, इसीलिए आप लोगों के समक्ष अपना हृदय खोल देने में मुझे बहुत ही आनन्द होता है।

कार्यकर्ताओं की यह सभा पूरे जिले की है, लेकिन दो-तीन सौ से अधिक लोग कार्यकर्ता बनकर नहीं आ पाये। फिर भी यह काफी है। अवश्य ही ये सभी पूरा समय देनेवाले कार्यकर्ता न होंगे। थोड़ा ही समय देनेवाले हो सकते हैं। फिर भी इतने लोग कार्यकर्ता के रूप में यहाँ आये हैं तो निश्चय ही जिले में काफी काम कर सकते हैं।

वास्तविक स्वार्थ पहचानें

यों तो दुनिया में काम कौन नहीं करता। सभी काम करते ही हैं। गीता में कहा है:

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।'

याने कोई काम किये बगैर क्षणभर भी नहीं रह पाता। महेसाणा जिले के ही नहीं, दुनिया के सभी मानव 'कार्यकर्ता' कहे जा सकते हैं। वे अपने-अपने स्वार्थ के लिए घर का काम करते ही हैं। फिर भी उनके वे काम स्वार्थ-युक्त हुआ करते हैं। मैं यह नहीं चाहता कि लोग स्वार्थमुक्त हो जायँ, लेकिन जो वास्तविक स्वार्थ है, उसे वे भलीभाँति समझें और तदनुसार आचरण करें तो स्वार्थ के साथ ही परार्थ या परमार्थ भी सहज ही सध जायगा। स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ—तीनों को अलग-अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि स्वार्थ शुद्ध और स्वच्छ हो तो उसमें शेष दोनों बातें सहज ही आ जाती हैं। इसीलिए मैं त्याग और तपस्या का स्वतन्त्र मूल्य नहीं आँकता। अवश्य ही उनका सामाजिक मूल्य है, याने वे गुणस्वरूप हैं, फिर भी मैं उनका स्वतन्त्र मूल्य नहीं आँकता।

त्याग और भोग का स्वतंत्र मूल्य नहीं

भोग की ही तरह यदि त्याग भी सामाजिक मूल्य न रखता हो, याने भोगी या त्यागी समाज के साथ सम्बन्ध न रखता हो तो उसके भोग या त्याग का कुछ भी मूल्य

नहीं । समाज के साथ सम्बन्ध रखने पर ही भोग या त्याग मूल्यवान हो सकता है। कोई बहुत बड़ा भोगी या त्यागी हो तो उसने बहुत बड़ी सिद्धि पायी, यह नहीं कहा जा सकता। यों तो मानव अपनी शक्ति के अनुसार भोग करता ही है। लेकिन समाज की सेवा के लिए जो भोगी बनता है, वही सच्चे अर्थ में भोगी है। नरसी मेहता ने गाया है कि जो समाज के लिए शरीर को भोग देता है, वह धन्य भोगी कहलाता है। इसी तरह समाज के प्रेम के लिए करुणा से प्रेरित होकर जो त्याग किया जाता है, उसी त्याग का मूल्य है। अन्यथा जो कोई त्यागी दिन में तेईस घंटे या पूरे महीनेभर जागने का अभ्यास करता है, चौबीस घंटे या पाँच-पाँच दिन तक रात-दिन खड़े रहने का अभ्यास करता है, वह इसी बात का कीर्तिमान स्थापित करता है कि मानव के देहरूपी यन्त्र में कितनी सहन-शक्ति हो सकती है। इस तरह न चाहते हुए भी यदि उससे समाज की कुछ सेवा हो जाय और समाज को यह पता चल जाय कि मानव अपने शरीर को एक महीने तक बिना नींद के चला सकता है तो समाज के ज्ञान में उतनी बुद्धि होगी। इतना ही उस त्याग का फल माना जायगा। फिर भी उसका स्वतन्त्र मूल्य कुछ न होगा।

आप सभी जानते ही हैं कि बापू पहले जो लंबी धोती पहनते थे, उसे उन्होंने क्यों त्याग दिया। उन दिनों हिन्दुस्तान के लोगों को पूरा कपड़ा भी नहीं मिल पाता था, ऐसी स्थिति में कम-से-कम कपड़ा पहनकर सभी लोगों के साथ एकरूप बनने के लिए ही उन्होंने लुंगी पहनना शुरू किया। उस त्याग में तो करुणा का मूल्य आँका जा सकता है। लेकिन कोई तपस्या करना चाहे और उससे चारित्र्य की कुछ भी शुद्धि न होती हो, सिर्फ वह अहंकार में चूर हो जाय तो उस त्याग का कुछ भी सामाजिक मूल्य नहीं। मैं किसीसे भी इस तरह के त्याग की अपेक्षा नहीं रखता।

'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'

उपनिषद् में लिखा है कि 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' याने त्याग करके ही भोगा जाय। इस तरह त्याग भी एक स्वतंत्र साधन है। किसान उत्तम-से-उत्तम बीज सुरक्षित रखता है। खाने के लिए कम पड़ने पर भी वह उसे काम में नहीं लाता और खेतों में छिटक देता है। वह यह त्याग इसीलिए करता है कि समाज को अधिक-से-अधिक भोग सुलभ हो। इसलिए उसके त्याग का मूल्य है। त्याग का बोझ न होना चाहिए। यदि मानव को त्याग का भार मालूम पड़ने लग जाय तो वह त्याग ही नहीं रह जाता। वह त्याग तो मिथ्या-त्याग है। वास्तव में त्याग तो उस तरह होना चाहिए, जिस तरह कि माँ बच्चे के लिए करती है। उसे उस त्याग से बड़ा ही आनन्द मिलता है, तनिक भी थकान महसूस नहीं होती। फिर भी यदि कोई त्यागी के तौर पर माँ की पहचान कराये तो वह यही कहेगी कि 'मैं त्यागी कैसे बन गयी? मैं तो बच्चों की सेवा करती हूँ, इससे मुझे आनन्द होता है। अगर बच्चे की सेवा का सौभाग्य न मिलता तो इतना आनन्द मैं खो देती। इस तरह मैं खुद को त्यागी नहीं मानती। इसलिए आप मुझे त्यागियों में गिन नहीं सकते।'

करुणा-प्रेरित हो कार्य करें

सारांश, जिस तरह माता पुत्र के प्रति वात्सल्य रखती है, उसी तरह समाज के वात्सल्य या करुणा के लिए त्याग किया जाय तो वह त्याग मान्य है, बाकी व्यर्थ की तपस्या करने का मेरा कोई उद्देश्य नहीं है। लोकहित का यह काम यदि मुझे न मिला होता और श्रीमान् लोग ही भूमिहीनों को भूमि तथा गरीबों को उत्पादन-साधन दिलाने का काम करते तो मैं पैदल-यात्रा ही न करता। याने मेरी पैदल-यात्रा इतने मीलों की हुई, इसे यदि कोई त्याग में गिनना चाहता हो तो मैं यही कहूँगा कि 'मैं पद-यात्रा न करता और करता भी तो आनन्द-भोग के लिए करता। इसलिए स्पष्ट है कि मेरी यह यात्रा व्यक्तिगत आनन्द या व्यक्तिगत क्लेश के लिए नहीं है; बल्कि यह सर्वथा करुणा से प्रेरित है।

इसलिए आप सभी कार्यकर्ता भले ही पूरा समय देनेवाले हों या न हों, जितना समय दें, उतना करुणा से प्रेरित होकर ही दें। उसीका लोगों पर असर होगा। लेकिन व्यर्थ का ही त्याग करेंगे तो उसका दूसरों पर कभी असर न होगा। एकबार एक आदमी मुझे मिला। उसे तैरने का काफी शौक था। छह-छह, सात-सात घंटे पानी में तैरता ही रह जाता। उसे एक छह-सात साल का बच्चा था और वह भी छह घंटे पानी में तैरता रहा। पिता ने ही उसे वह सिखाया था। लेकिन इस तरह कोई तपस्या करे और थक जाय तो उसका दबाव दूसरे पर नहीं पड़ पाता। दूसरों को ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि हम भी उसका अनुकरण करें। उसका काम करुणामूलक नहीं था। किस तरह के काम से जनता पर दबाव पड़ सकता है, इसकी पहचान यही है कि वह करुणामूलक हो। इसलिए आप लोग करुणा के सिवा और कोई भी लक्ष्य न रखते हुए निष्काम बनकर वर्ष में दो महीने या जितना भी समय दें तो उससे भी काफी काम होगा। यह एक बात हुई।

योजना और सातत्य-योग भी जरूरी

दूसरी बात यह कि किसी नदी में पानी का अपना मुख्य स्रोत होने पर यदि दूसरा भी पानी उसे आकर मिल जाता है तो वह बड़ी बन जाती और सदैव बहती रहती है। यदि उसे नया पानी न आ मिले तो भी वह बहती है, क्योंकि उसका वह मुख्य स्रोत है ही। इसी तरह किसी भी सार्वजनिक कार्य में मुख्य स्रोत के रूप में कुछ कार्यकर्ता हों और वे निरन्तर काम करते रहें तो निश्चय ही काम शीघ्र पूरा हो जाता है। उनके प्रति लोगों को यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि यह आदमी सदैव सेवा ही करता रहेगा, यह उसका स्वभाव ही है—जैसा कि लोग मेरे बारे में सोचते हैं कि विनोबा काम न होने तक सदैव घूमता रहेगा। इसलिए निरन्तर काम करनेवाले कार्यकर्ता भी अवश्य होने चाहिए। फिर आप सब दो-तीन सौ कार्यकर्ता थोड़ा समय देनेवाले भी रहें तो भी कोई हर्ज नहीं। मैं तो ऐसे निरन्तर कार्य करनेवाले प्रति पाँच हजार जनसंख्या पर एक-एक सेवक माँगता हूँ। मान लीजिये कि आपके जिले में १४ लाख जनता है तो हमें इस हिसाब से २८०० याने ३ हजार निरन्तर काम करनेवाले सेवक मिलें और वे सतत काम करते रहें तो उनके पीछे और भी बहुत-से सेवक निकल पड़ेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इन चौदह लाख लोगों का काम कौन करेगा, इसका अन्तिम और सच्चा उत्तर तो यही है कि चौदह लाख का काम चौदह लाख ही करेंगे। हर आदमी अपना-अपना काम करे, तभी यह काम हो सकता है। लेकिन स्थूलरूप में देखें तो इसके लिए कुछ निरन्तर काम करनेवाले हों और उनमें हरएक को थोड़े समय काम करनेवाले लोग मदद दें तो बहुत कुछ काम हो सकता है। हम यह सारा संयोजन गुजरात में करना चाहते हैं।

सर्वोदय-पात्र की योजना बड़ी आसान

हम मानते हैं कि गुजरात में यह काम करने की शक्ति विद्यमान है। एक-एक समाज में अपना-अपना विशेष गुण हुआ करता है, जो उसे छोड़ दूसरे समाज में नहीं पाया जाता। गुजरात में संयोजन और व्यवस्था करने का यह विशेष गुण है। इसलिए आप युवक लोग यह काम करने के लिए निकल पड़ें तो जिले का काम बहुत जल्दी आगे बढ़ जायगा। इसलिए हमें इस जिले से तीन हजार निरन्तर काम करनेवाले कार्यकर्ता चाहिए। इन तीन हजार कार्यकर्ताओं के परिवारों के योग-क्षेम की व्यवस्था भी हमें करनी पड़ेगी। मैं समझता हूँ कि गुजराज को इसका कुछ भी भार नहीं होगा। आप संपत्तिदान से ही इन्हें यह मदद दे सकते हैं। लेकिन मैं चाहता हूँ कि हर घर से इस काम के लिए मुझे सम्मति मिले। इन तीन हजार कार्यकर्ताओं के निर्वाह का भार १०-२० लोग ही सँभाल सकते हैं, लेकिन इतने से काम शुरू हो सकता है, पर क्रान्ति नहीं। क्रान्ति तो तभी होगी, जब इस काम के लिए हर घर से नैतिक बल मिले, हर घर इस सन्देश को उठा लेने के लिए तैयार हो। आधुनिक भाषा में बोलना हो तो मुझे हर घर का वोट मिले और वह सक्रिय वोट मिले। अन्य राजनैतिक दल तो लोगों के निष्क्रिय वोट ही लेते हैं, पर सर्वोदय में मैं उनसे सक्रिय वोट ही चाहता हूँ।

अतएव इस काम को संपन्न करने के लिए हर घर में सर्वोदय-पात्र की स्थापना होनी चाहिए। यदि सब घरों से इसे नैतिक समर्थन प्राप्त होगा तो उसका कम-से-कम इतना अर्थ अवश्य होगा कि उस घर से कभी भी अशान्ति का वातावरण पैदा नहीं होगा। वे घर अशान्ति के काम में कभी भाग न लेंगे, ऐसा अभावात्मक अर्थ तो अवश्य होगा। याने सर्वोदय-पात्र रखने के साथ ही यह प्रतिज्ञा भी लेनी होगी कि हमारा घर अशान्ति के काम में कभी भाग न लेगा। इसमें कुछ करना ही नहीं पड़ता, बहुत ही आसान काम है। हमारे धर्म-शास्त्रों में बहुत-सी सरल बातें भी कही गयी हैं। यदि कोई यज्ञ किया जाय तो उसके लिए कुछ करना भी पड़ता है। लेकिन यदि कहें कि 'क्रोध न कीजिये' तो उसके लिए कुछ भी करना नहीं पड़ता। सच तो यह है कि क्रोध करने के लिए कुछ करना पड़ता है—आकृति कठोर बनानी पड़ती है, भौंहें चढ़ानी पड़ती हैं; लेकिन क्रोध न करने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता। हिंसा करने के लिए शस्त्रादि की व्यवस्था करनी पड़ती है, पर उसे न करने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता। झूठ न बोलने में कौन-सा श्रम करना पड़ता है? मौन रखने में क्या करना पड़ता है? वस्तुतः मौन से तो श्वास-उच्छ्वास कम होने से दीर्घ जीवन ही प्राप्त होता है, इसीलिए तो योगीजन प्राणायाम करते हैं। मौन में तो निरन्तर समाधि का अनुभव होता है। वह बड़ा ही स्वाभाविक है। अतः मौन में कुछ भी करना नहीं पड़ता। इसी तरह सर्वोदय-पात्र में भी कम-से-कम प्रतिज्ञा यही होती है कि 'मैं अशान्ति का काम न करूँगा। मैं शांति या प्रेम का काम करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा इसमें नहीं करनी पड़ती। बल्कि यही प्रतिज्ञा करनी होती है कि जो ऐसा काम करता है, उन्हें मदद देंगे। इसलिए यह छोटी-से-छोटी प्रतिज्ञा कर रोज मुट्ठीभर चावल सर्वोदय-पात्र में डाला जाय।

इस तरह एक बात यह कि आप लोग जो भी काम करें, करुणा से प्रेरित होकर करें। दूसरी बात, जो करें, वह योजनापूर्वक करें और तीसरी बात, निरन्तर काम करनेवाले तीन हजार जिला-सेवक दें तथा उनके योगक्षेम के लिए घर-घर सर्वोदय-पात्र रखें। इन तीन मुख्य बातों को करें तो आगे के बड़े-बड़े कामों के लिए यह पक्की बुनियाद बन जायगी। इतना करने के बाद रचनात्मक काम करना होगा। किंतु उपर्युक्त बातें करने पर ही यह हो सकेगा, इसके पहले नहीं।

आज व्यापक प्रचार से ही काम होगा

एक जमाने में यह चलता था कि एक आदमी रचनात्मक काम लेकर एक जगह बैठ जाय तो उतने से भी देश की शक्ति बढ़ाने की दिशा में बहुत कुछ हो जाता था। अतः नित्य चित्त-शुद्धि की भावना रखनेवाला एकआध व्यक्ति भी कोई रचनात्मक काम लेकर एक जगह बैठ जाय तो उसका बहुत असर पड़ता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आज जब हिन्दुस्तान और दुनिया का हाल देखते हैं, जब कि सारा वातावरण गर्म पाया जाता है, तब एक गाँव में रहकर वहीं उष्णता कम करने से काम नहीं चल सकता। सारा बाहरी वातावरण गर्म या जलता रहे तो वैसी स्थिति में पहले तो कहीं एक जगह 'एयर कंडीशण्ड' वातावरण बनाया नहीं जा सकता, कारण बाहरी आँच से उसका बचना सम्भव ही नहीं। फिर यदि वैसा हो भी जाय तो दूसरे गाँवों पर उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता।

सद्गुणों का वैज्ञानिक दृष्टि से प्रचार करें

सादगी का ही एक उदाहरण ले लें। बापू सादगी पर बहुत जोर देते थे। लोगों ने यह देख उनके जमाने में फेंटा हटाकर सिरपर टोपियाँ पहनना शुरू कर दिया। किन्तु क्या इससे सादगी आ गयी? सच पूछिये तो बापू के जमाने में लोग जितनी बीड़ी, सिगरेट पीते थे, जितना भोग-विलास करते थे, उससे वह कई गुना आज बढ़ गया है। आज सादगी के लिए गुंजाइश ही नहीं रही। कला के नाम पर तरह-तरह के भोग-विलास चल पड़े हैं। मुझे तो इनमें 'कला' की जगह 'अकला' ही दिखाई पड़ती है। घर में हम कला के नाम पर तरह-तरह के फोटो टाँग रखते हैं। लेकिन इन्हीं फोटो के पीछे कीड़े-मकोड़े सदा के लिए घर कर बैठते हैं, इसपर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। घर में हम सूर्योदय के चित्र टाँग रखते हैं, इसकी अपेक्षा प्रत्यक्ष सूर्य की धूप में कुछ देर रहें, आँखों से प्रत्यक्ष सूर्योदय का दृश्य देखें तो स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से कितना लाभ हो सकता है? सारांश, आज यह स्थिति उपस्थित हो गयी है कि जब हम सद्गुणों का प्रसार भी वैज्ञानिक दृष्टि से करें, तभी उनकी आवश्यकता ध्यान में आ सकती है। अन्यथा त्याग, संप्रदाय और धर्म के नाम पर सद्गुणों की बातें करें तो लोग कभी आकृष्ट न होंगे। इसलिए एक गाँव में बैठकर हम कितना ही अच्छा रचनात्मक काम करें, उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता।

अभी विज्ञान का पूरा प्रचार नहीं हो पाया है। उसका आरंभ ही हुआ है। इसीलिए लोग उचित-अनुचित का विचार न कर जो दीखता है, उसीपर टूट पड़ते हैं। सिनेमा का आविष्कार देख लड़के उसी ओर टूट पड़ते हैं और रात-रात भर जागकर स्वास्थ्य तक खो बैठते हैं। किन्तु जब विज्ञान का पूरा प्रचार हो जायगा तो यह सहज ही उनके ध्यान में आ जायगा कि इससे तो हम बहुत कुछ खो रहे हैं। तब स्वस्थ, निःस्वप्न निद्रा का आनन्द और लाभ सहज ही उनके ध्यान में आ सकता है। आज इंग्लैण्ड, अमेरिका में लोग सप्ताहान्त में एक दिन खेतों पर जाकर खुली हवा का आनन्द

लूटते हैं। किन्तु जब विज्ञान पूर्ण विकसित हो जायगा तो उनके ध्यान में आ जायगा कि इन मंजिलों, ऊँचे मकानों में रहकर सारी जिन्दगी बिताना अवैज्ञानिक है। इसकी अपेक्षा खेतों पर, फार्मों पर ही जीवन बिताना प्रशस्त होगा। फिर तो आज के ये बड़े-बड़े शहर टूटकर गाँव ही आबाद होंगे। सभी निसर्ग-संपत्ति से लाभ उठायेंगे। लोग मेरी यह बात सुनकर आश्चर्य कर सकते हैं, पर मुझे तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं दीखता। आज जो विज्ञान का दुरुपयोग हो रहा है, वह उसके मामूली ज्ञान का ही परिणाम है। अंग्रेजी में कहा ही जाता है कि 'लिटिल नालेज इज डेंजरस' याने थोड़ा ज्ञान खतरनाक होता है। विज्ञान का प्रथम उपयोग होने से ही यह जोश, यह पागलपन दीखता है, लेकिन जब वह बढ़ेगा तो सभी अच्छी बातें विज्ञान की दृष्टि से समझ में आ जायँगी और लोग उनपर अमल करने लग जायँगे।

इसलिए विज्ञान के इस युग में यदि हम व्यापक प्रचार का काम न करें और एक ही जगह को पकड़कर बैठ जायँ तो काम चल नहीं सकता। अतः प्रचार-कार्य व्यापक करना ही होगा, जो निरन्तर काम करनेवाले कार्यकर्ता ही कर पायेंगे।

जिले-जिले में आश्रम बनें

फिर, इस तरह विचार का काम तो व्यापक होगा, पर इसके लिए प्रयोगशालाएँ भी होनी चाहिए। विज्ञान के प्रयोग भी जब विभिन्न प्रयोगशालाओं में किये जाते हैं, तभी नये-नये आविष्कार हो पाते हैं। इसलिए प्रत्येक जिले में ऐसा एक स्थान, एक आश्रम होना चाहिए। वहाँ जीवन की शिक्षा दी जाय—वहाँ लड़कों को, गृहस्थों को और वानप्रस्थियों को, सर्वोदय की शिक्षा देने की व्यवस्था रहे। यह संस्था बहुत बड़ी न हो, फिर भी बीस-पचीस लोग उसमें अवश्य रहें। यह संस्था सरकार से मदद न ले, अपने बल पर सर्वाङ्गसुन्दर बने। सरकार की मदद न लेना मैं ऐसी संस्था का अत्यावश्यक पथ्य मानता हूँ। इस तरह सुव्यवस्थित रूप से इस आश्रम में जीवन के प्रयोग होते रहें और फिर उनका प्रसार ये निरन्तर काम करनेवाले सेवक करें। हर घर में सर्वोदय-पात्र रखे जायँ और सेवा-कार्य सतत चलता रहे। यदि आप लोग यह सब करें तो बड़ा ही आनन्द मिलेगा।

जब मैं ये बातें कहा करता हूँ तो मुझे खूब उत्साह चढ़ आता है और इससे मुझे ऑक्सीजन मिल जाता है। बहुत-से लोग मुझसे पूछते हैं कि 'इस तरह रोज पैदल चलने से क्या आप थक नहीं जाते?' मैं कहता हूँ कि 'क्या राम-नाम लेते समय भी कभी थकान मालूम पड़ती है?' मेरे लिए तो यही राम-नाम है। इसका वर्णन करने में ही उत्साह आता है—इतना अधिक बोल गया, फिर भी थका नहीं। बल्कि इससे थकान जाती ही रही। अब मैं बड़े उत्साह और आवेश के साथ अपने कमरे में जाऊँगा। जिस कल्पना के उच्चारण करने में इतना उत्साह और इतना आनन्द प्राप्त होता हो, उसके आचरण में कितना उत्साह और आनन्द होगा, इसे आप ही सोच सकते हैं। ● ●

पदयात्रियों के साथ

हड़मतिया (मध्यसौराष्ट्र) २४-११-'५८

आत्मज्ञान और विज्ञान ही समाज की आधारशिला

आजकल मैं अपनी सभी बातों को विज्ञान पर घटाया करता हूँ। जिस तरह आत्मा का एक दर्शन होता है, जो वस्तु के अन्दर तह तक पहुँच पाता है, उसी तरह विज्ञान में भी यह शक्ति है कि वह सभी बाहरी पर्दों को हटाकर दूर-दूर तक का दर्शन कराती है। मैं मानता हूँ कि विज्ञान युग में बहुत-सी बातें पुरानी पड़ जायँगी। राजनीति भी पुरानी पड़ जायगी, इसका अनुभव अभी राजनीतिक दलवालों को नहीं हो रहा है। जब उन्हें इसका पता चलेगा, तब उनके ध्यान में आयेगा कि जीवन के निर्माण में राजनीति का कोई भाग नहीं, बल्कि विज्ञान का ही भाग रहेगा। यदि 'एटम' की खोज न हुई होती तो आज के जीवन का ढंग कुछ निराला ही बन जाता। राजनीति पर भी विज्ञान का असर होगा। आज देशों की मर्यादाएँ टूट चुकी हैं और दूर-दूर के देश नजदीक आने लगे हैं। अब तो दिल्ली और मास्को भी पड़ोस के देश हो गये हैं। यह विज्ञान की ही करामात है। ऐसी स्थिति में यदि हम पुरानी राजनीति पर विश्वास रखें तो काम न चलेगा।

विज्ञान और धर्माचरण की शक्ति

आज सुखी, शान्त जीवन की आवश्यकता है। यह आवश्यकता राजनीति, धर्मनीति या विज्ञान जो भी पूरी करे, उसीका महत्त्व माना जायगा। यह निश्चित है कि यह शक्ति यदि किसी में है तो विज्ञान और धर्माचरण में ही है। आज चाहे जितनी नास्तिकता का प्रचार हो, फिर भी धर्मनीति का असर पुराने जमाने से कम न होगा, बल्कि बढ़ेगा ही। कारण अब काम, क्रोध आदि विकारों के बहुत ही बुरे परिणाम होंगे, क्योंकि आज शस्त्रास्त्र बड़े ही भयानक बन गये हैं। अतएव आत्मज्ञान और धर्मनीति का महत्त्व पहले से अधिक बढ़ेगा। इन्हींमें शान्ति-स्थापना की शक्ति है। विज्ञान-युग में सेना कितनी ही लम्बी क्यों न हो, उसका कुछ भी महत्त्व नहीं। राजनीति का तो इस युग में कुछ मूल्य ही न रहेगा। कूटनीतिज्ञ एक-दूसरे के विरोध में बैठकर तभी असर डाल पाते थे, जब कि दोनों के पास समान शस्त्र होते थे। लेकिन आज तो विज्ञान रोज नये-नये शस्त्र निकाल रहा है। उनके सामने पुराने शस्त्र चल नहीं सकते। पुराने जमाने में पैसे की कीमत थी, किन्तु आज पैसे से कुछ खरीदा जा सके, ऐसी स्थिति नहीं रही। मान लीजिये, आज अंबर चर्खा का वस्त्र मिल के भाव पर दिया जा सकता है। लेकिन कल यदि और कोई नया औजार आ जाय तो फिर अंबर भी न चलेगा। स्पर्धा तभी तक चल सकती है, जब तक कि नये शस्त्रों की खोज नहीं होती। इसलिए नये जमाने में राजनीति की तरह पैसे की भी कुछ न चलेगी।

आज कई देशों में विभिन्न पक्षों के बदले सैनिक शासन चलने लगा है। पक्षों में तो स्वार्थी लोग अपना स्वार्थ भी देखते हैं, जिससे कितनी ही बार राष्ट्र-हित का भी ध्यान नहीं रखा जाता। इसीलिए उन सबको मिटाकर उन देशों ने सैनिक शासन को ही बढ़ा लिया। सैनिक शासन दलीय शासन की अपेक्षा सदैव बुरा ही रहता है, ऐसी बात नहीं। सेनावाला परशुराम जैसा धर्मपुरुष हो तो उसके शासन में लोग कुछ दिन सुखी भी रह सकते हैं। सेना में सिर्फ राजनीति की चर्चाएँ ही नहीं होतीं, उसमें विविध प्रकार भी होते हैं। वह हमेशा झूठ की ही रचना नहीं करती। इस तरह सेना भी वरदान हो सकती है, पर वह कुछ ही समय के लिए।

अमर्यादित राजनीति के अभिशाप

पुराने जमाने में राजनीति राजा-महाराजाओं और सरदारों के पास ही थी, लेकिन आज विज्ञान-युग में वह गाँव-गाँव, ग्राम-पंचायतों, साहित्य, प्रेस—यत्र-तत्र सर्वत्र चल पड़ी है। फलस्वरूप एक-दूसरे को अलग करनेवाला मत्सर चल रहा है। अभी तक तो वह मर्यादित चलता था, पर आज अमर्यादित रूप में चल रहा है। आज के जमाने में जो राष्ट्र नयी खोज करके आगे आयेंगे, उनमें शेष जनता उनकी गुलाम बनेगी। इसके सिवा कोई चारा नहीं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आज की राजनीति सर्वथा व्यर्थ है। फिर वह कैसे चल सकती है?

आज समाज-स्वास्थ्य के सम्बन्ध की योजनाएँ ही चल सकेंगी। उसकी दो ही आधारशिलाएँ होंगी: (१) आध्यात्मिक विचार और (२) विज्ञान के औजार। यदि सर्वोदयवाले विज्ञान का आधार लेने में आनाकानी करेंगे तो वे टिक न पायेंगे। इसी तरह विज्ञानवाले भी धर्मनीति और आत्मज्ञान स्वीकार करने में रुचि न दिखायें तो वे भी टिक न सकेंगे। दोनों के लिए दोनों बातें अनिवार्य हैं।

अखबारवालों को पता ही नहीं

अभी अखबारवाले यह बात समझ नहीं पाये हैं। यदि वे इसे समझ जायँ तो निश्चय ही विज्ञान, आत्मज्ञान और साहित्य को प्रधान स्थान देंगे। आज तो उनकी दृष्टि में इन सबका गौण ही स्थान है। सप्ताह में एकआध बार इनके बारे में कुछ आ जाता है। उसके साथ वह ज्योतिष-शास्त्र और अमुक का व्याख्यान भी रहेगा। बाकी अन्य दिन तो 'अमुक मंत्री महोदय वहाँ गये, अमुक वहाँ नहीं गये, अमुक ने इस्तीफा दिया' यही सब महत्त्व का माना जाता है, जो सर्वथा बेकार है। पुराने जमाने से यही पढ़ने की आदत पड़ गयी है, इसलिए यह ढंग चालू है। जिस तरह कुम्हार के चक्र से बर्तन बन जाने पर भी चक्र घूमता ही रहता है, इनकी गति भी ठीक यही है। जब तक पहले से प्राप्त गति क्षीण नहीं होती, तब तक वह चलता ही रहेगा। इसलिए वह गति क्षीण होनी चाहिए। यदि कार्यकर्ता यह बात समझें और एक-दूसरे को धक्का दें याने वे सामाजिक काम इसी तरह करें, जिससे लोग नीतिमत्ता पर आधार रखकर विज्ञान-शक्ति से जीवन सुधार लें, तभी हिन्दुस्तान या कोई भी देश आगे आयेगा। अन्यथा बहुत आगे आया हुआ देश भी पीछे पड़ जायगा। जर्मनी कितना आगे बढ़ गया था, पर आज उसकी क्या हालत है? फ्रान्स १० साल पहले सम्पन्न माना जाता था। लेकिन आज वह अस्त-व्यस्त हो गया है।

इस तरह स्पष्ट है कि जो राष्ट्र इन सभी झगड़ों से अलग रह कर विज्ञान और आत्मज्ञान दोनों को अपनायेंगे, वे ही टिक सकेंगे। लोग चीन की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, लेकिन इसमें विशेष रस नहीं दीखता। उसने जनता को कुछ सुख दिया होगा, फिर भी सैनिक शक्ति पर भरोसा रखना छोड़ा नहीं है। यदि जर्मनी के बदले रूस ही खत्म हो जाता तो कुछ उलटी ही बात सुनने को मिलती। जहाँ भी सेना का आधार लिया जायगा, वहाँ हमारा सारा सयानापन, अक्ल आदि सभी खतरे में पड़ जायगा। आप कहेंगे कि यह दूर की बात है। लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता। पाकिस्तान की घटना उपेक्षणीय नहीं। इस तरह जहाँ सभी लोग शस्त्रास्त्र और सेना रखने पर जोर देते हैं, वहीं मैं उसे सर्वथा हटा देनेपर जोर देता हूँ।

सेना हटाने की हिम्मत का असर

मैं मानता हूँ कि आज तक यही पद्धति चली आ रही है। फिर भी यदि कोई राष्ट्र सेना हटाने की हिम्मत करे तो यह निश्चित है कि ऐटम बम से जितना असर होगा उससे कहीं अधिक असर उसके इस काम का होगा। उससे ऐसी स्थिति पैदा होगी कि सभीको इस पर सोचना पड़ेगा। मान लीजिये, इंग्लैण्ड सभी शस्त्रास्त्र त्याग दे तो क्या उसका असर यूरोप, अमेरिका और रूस पर हुए बगैर रह सकता है? आज यह बात न होने से पुरानी ही बात चल रही है। उससे हल नहीं हो सकता। यह जानते हुए भी पुरानी ही बात चल रही है तो उससे बचने के लिए तत्काल शान्तिसेना का संगठन होना चाहिए, पक्षमुक्त सेवक होने चाहिए, जो जनता की सेवा करें। आज जनता को शान्ति की जरूरत है। उसमें खमीर जैसी शक्ति पैदा होनी चाहिए, जिससे सारे समाज का परिवर्तन किया जा सके। फिर तो पड़ोसी राष्ट्र का भी परिवर्तन किया जा सकता है। इसके सिवा मुझे तो दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। रात-दिन मन में यही विचार उठता है। पुस्तकों में भी स्पष्ट लिखा है कि 'वैर से वैर नहीं मिटता।'

वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त करें

प्रश्न: विज्ञान के विषय में कुछ और समझायें।

उत्तर: यह जरा लम्बा विषय है। यंत्र, औजार आदि का सुधार तो विज्ञान से होता ही है, उससे जीवन की पद्धति में भी सुधार होता है। बेलूर में एक केन्द्र है, जहाँ महारोगी का पैर काटकर किसी प्रेत का अवयव जोड़ दिया जाय तो बस, वह 'पंगुं लंघयते गिरिम्' हो जाता है। इस तरह विज्ञान से अनेक शोध होते और जीवन में विलक्षण परिवर्तन आ जाते हैं। इसलिए विज्ञान का अध्ययन करना चाहिए। वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। जो यह करेगा, उसीका मूल्य होगा। फिर यदि कोई पुराना पिछड़ा प्रदेश भी यह काम करे तो वह भी सामने आ जायगा, अगुवा बन जायगा। ●●●

अनुक्रम

१. शान्ति-सेना की समग्र दृष्टि···
गगवान २ मार्च '५९ पृ० २२१
२. तीन आवश्यक कर्तव्य···
कलोल २३ दिसम्बर '५८ „ २२४
३. आत्मज्ञान और विज्ञान···
खड़मतिया २४ नवम्बर '५८ „ २२७

●●●

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, अ० भा० सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, काशी द्वारा भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी में सम्पादित, मुद्रित और प्रकाशित
फोन : १२८५ तार—प्रकाशन, राजघाट, काशी।